Artistic Narration Vol. XIII No. 2 July-Dec. 2022 ISSN (P): 0976-7444 (e): 2395-7247
Impact Factor 8.851 (SJIF)

हिन्दी सिनेमा में हास्य–व्यंग्य की प्रासंगिकता

डॉ० कुमारी शुभ्रा
अतिथि प्राध्यापिका
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेलः shubhrasingh909@gmail.com

Reference to this paper should be made as follows:

डॉ० कुमारी शुभ्रा

हिन्दी सिनेमा में हास्य–व्यंग्य की प्रासंगिकता

Artistic Narration 2022,
Vol. XIII, No. 2,
Article No. 22 pp. 149-154

https://anubooks.com/journal-volume/artistic-narration-2022-vol-xiii-no2

सारांश

हास्य–व्यंग्य का मूल स्रोत हमारी हजारों वर्षों पुरानी संस्कृति, सभ्यता और जीवन दर्शन में देखा जा सकता है। हिन्दी सिनेमा में हास्य–व्यंग्य कहें या मसखरेपन की कला मूल फिल्मों और लघु चित्रों से आरंभ हुई है। प्रारंभ में ये एक या दो रील में हुआ करते थे और इनकी लंबाई भी बस 500 फुट से 1000 फुट तक होती थी।

भारतीय सिनेमा की पहली हास्य–व्यंग्य प्रधान फिल्म धीरेन गांगुली द्वारा बनाई गयी बंगला फिल्म 'बिलात फेरात' है। एक खास बात यह थी कि यह फिल्म रंगीन थी। इसके बाद भी कुछ फिल्में आई, किन्तु उसका स्वरूप बचकाना रहा था।

सन् 1941 ई. में दलसुख पांचोली की 'खजांची' फिल्म ने मसखरेपन को जोकरपन से हटा कर कुछ हास्य और व्यंग्य से पूर्ण अदाकारी करने का मौका दिया। इसमें उस जमाने के प्रसिद्ध कलाकार मनोरमा, रमोला आदि थे। उसके साथ ही न्यू थियेटर की 'करोड़पति' आई। उसकी कथा में फिल्मी दुनिया से संबंधित चटपटी कॉमेडी थी। इसी श्रृंखला में पी.के. अन्ने ने हंस पिक्चर्स के लिए हिन्दी में 'ब्रांडी की बोतल' बनायी।

सन् 1942 में किशोर साहू की कॉमेडी फिल्म 'कुंवारा बाप' और अन्ने की 'राजा–रानी' आयी। इस परम्परा को आगे बढ़ाया, रूप के. शोरी ने अपनी हल्की–फुल्की फिल्म 'एक थी लड़की' से। यह फिल्म एक ट्रेड सेंटर सिद्ध हुई, इसमें हल्के–फुल्के संगीत के साथ महिला कलाकारों की भी दिलचस्प कॉमेडी थी। इस तरह भारत के स्वाधीन होने तक इन हास्य फिल्मों का स्वरूप बंधा–बंधाया था, जो कमोवेश आज भी है।

आजादी के बाद की पीढ़ी में राजकपूर ने 'आवारा' में चार्ली चैपलिन के अंदाज को अपनाया था, इसके बाद उनका यह स्वरूप बहुत सारी फिल्मों में दिखाई दिया। 'श्री 420' और 'मेरा नाम जोकर' जैसे फिल्मों में राजकपूर ने हास्य–व्यंग्य कलाकार के रूप में स्थापित कर लिया। कुमार बंधुओं (अशोक कुमार, किशोर कुमार तथा अनूप कुमार) ने 'चलती का नाम गाड़ी' में मजेदार अभिनय किया। हास्य कलाकार जॉनी वाकर 'सी.आई.डी.' से उभरे। उनका यह रंग केश्टो मुखर्जी ने अपनाया।

'ट्रेजड़ी किंग' कहे जाने वाले दिलीप कुमार जी की अनेक फिल्मों में कॉमेडी है। यही विविधता 'सगीना' में उभरी है। सगीना का सगीना महतो जब व्यंग्यात्मक शैली को आत्मसात करके बोलता है, तब उसका कोई जवाब नहीं बन पड़ता और दर्शक सिर्फ 'वाह–वाह' कह उठते हैं।

हास्य फिल्मों को एक सशक्त अभिनेता के रूप में मिला–महमूद। इनकी मौलिकता सामने आई, जब इन्होंने विविध तरह के रोल किये। 'हार–जीत' में इन्होंने कॉमेडियन के रूप में जबरदस्त 'ट्रेजडी' पैदा की थी।[1]

20वीं सदी में प्रसिद्ध अभिनेता भी कॉमेडी रोल करने लगे थे–धर्मेन्द्र, अमिताभ, शम्मी कपूर, इनकी फिल्में मसखरेपन और गंभीरता को नये आयाम देती हैं।

हिन्दी सिनेमा जगत् ने समय की आवाज को पहचानते हुए हर समय में, हर तरह की फिल्में बनाई हैं। सिनेमा के विकास के साथ–साथ फिल्में भारतीय समाज का आईना बनती चली गयीं। समय के साथ कॉमेडियन की परिभाषा भी बदली गई। यह शैली व्यावसायिक सिनेमा की प्रमुख शैलियों में से एक रूप में विकसित हुई। जिसमें फिल्म उद्योग के प्रमुख अभिनेताओं ने इस तरह की कॉमेडी फिल्मों के लिए साइन किया। अमोल पालेकर जैसे दिग्गज

अभिनेता से लेकर रेखा, मौसमी चटर्जी, कमल हासन, परेश रावल, कादर खान, ओमपुरी, नसीरूद्दीन शाह, हेमा मालिनी और श्रीदेवी से लेकर शाहरूख खान, अक्षय कुमार, अनिल कपूर, जूही चावला, रानी मुखर्जी, सलमान खान जैसे समकालीन लोग आमिर खान, गोविन्दा और करिश्मा कपूर सभी ने हास्य–व्यंग्य फिल्मों में अपना हाथ आजमाया है।

व्यंग्य हिन्दी सिनेमा का मूल स्वर नहीं रहा है, इसलिए हजारों फिल्मों लम्बे सिनेमाई सफर में बेहतरीन कहे जा सकने लायक सटायर कम ही बने हैं, फिर भी हिन्दी सिनेमा में समय–समय पर कई अच्छी कॉमेडी फिल्में दी हैं जिन्हें आज भी देखा पसंद किया जाता है। अच्छी कॉमेडी फिल्म की सफलता आज भी यही है कि उसे हम अपनी जिन्दगी और उसकी उलझनों के कितना करीब पाते हैं और जो फिल्म ऐसा कर पाती है वो आज भी हमारा दिल जीत लेती है और क्लासिक का दर्जा पाती है।

कोई भी चयन अपने आप में पूर्ण नहीं होता और ठीक इसी तरह यहाँ भी यह दावा नहीं है, जैसे आलोचक पवन झा मानते हैं कि किशोर और मधुबाला की 'हाफ टिकट' में दोनों की कैमिस्ट्री और हास्य 'चलती का नाम गाड़ी' से भी आला दर्जे का है।[2] इसी तरह नम्रता जोशी का कहना है कि पंकज पराशर की 'पीछा करो' एक बेहतरीन हास्य फिल्म थी जिसे रेखांकित किया जाना चाहिए।[3] इस तरह से देखा जाये तो कई सिनेमा के चाहनेवालों पंकज आडवानी की अब तक की अनरिलीज़्ड फिल्म 'उर्फ प्रोफेसर' को कल्ट क्लासिक मानते हैं तो बहुत लोगों का ऐसा भी सोचना है कि कमल हासन की 'पुष्पक' फिल्म, 'मुम्बई एक्सप्रेस' तथा 'चाची 420' के जिक्र के बिना हास्य–व्यंग्य फिल्मों का चयन अधूरा है।

बीते साठ–सत्तर सालों में अगर हिन्दी सिनेमा में हास्य के बदलते रूपों का जायजा लें तो यह कोशिश दिलचस्प साबित होगी। फिल्मों में तब बात नॉस्टेलजिया की नहीं, लेकिन सच यही है कि पहले के सिनेमा में हास्य का प्रयोग जीवन के एक अंश के रूप में होता था। समस्याएं थीं, दुःख थे, संवेदनाएं थीं, भावना थी और सबों के साथ–साथ थोड़ा–सा हास्य–व्यंग्य भी था। 80 के दशक तक हिन्दी सिनेमा में एक मुख्य कहानी के समांतर एक छोटी–सी मुकम्मल कहानी चला करती थी, जो मुख्य कहानी से गुंथी रहती थी। इस समांतर कहानी का उद्देश्य मुख्य कहानी की उदासी या कह लें तनाव से दर्शकों को थोड़ी देर के लिए राहत देने का काम होता था। इसके अलग नायक होते थे और अलग नायिका।

हास्य कलाकारों की जवाबदेही रहती है कि हमारी जिन्दगी के उन पलों को हमें याद दिलाने की कोशिश करे जहां हम हंस सकते हैं। परम्परा ऐसे हास्य की ही रही है, शायद इसलिए हास्य के उन पलों को ढूँढ़ने के लिए हिन्दी फिल्मों में एक समांतर कथानक की गुंजाइश भी हमेशा रही थी।

फिल्मों का मुख्य लक्ष्य मनोरंजक प्रदान करना है। फिल्म एक व्यापक माध्यम वाला क्षेत्र है जिसे साधारण आदमी से लेकर प्रबुद्ध वर्ग के लोग भी आसानी से स्वीकार करते हैं। इस

माध्यम की पहुँच और प्रभाव इतना गहरा है कि उसका असर हमारे जीवन के आचार–विचार पर सीधा पड़ता है।

हास्य फिल्मों का इतना अच्छा देशी और विदेशी बाजार होते हुए भी क्या कारण है कि हमारे निर्माता–निर्देशक हास्य कला पेश करने से कतराते रहते हैं?[4] पिछले कुछ वर्षों में प्रदर्शित हुई, फिल्मों पर यदि हम गौर करें तो हम पायेंगे कि जीवन के बहुत ही महत्वपूर्ण घटक–हास्य को उसके सही स्थान से वंचित कर दिया जाता रहा है। इसे महत्वहीन समझा जाता रहा है, ऐसा क्यों हुआ? क्या हम इतने अधिक निराशावादी हो गये हैं? क्या जीवन की कठोरता हम सब पर इतनी अधिक हावी हो गयी है कि हम हँसी मात्र के लिए भी तरस गये हैं। बहुत सारे प्रश्न हमारे मन में उभरते हैं जब हम आज की हिन्दी फिल्मों को देखते हैं, दूसरी तरफ जीवन के एक–एक अंश में एक–एक क्रिया में हास्य का खजाना भरा पड़ा है, हम चाहें तो अपना जीवन हँसी–हँसी में गुजार सकते हैं। फिल्मकारों की यह धारणा बन गयी है कि हमारे दर्शक हास्य फिल्में स्वीकार नहीं करते। यदि इसकी गहराई से खोज की जाये, तो हम स्वयं पाते हैं कि यह धारणा निराधार है क्योंकि जब कभी भी किसी फिल्मकार ने अच्छी हास्य–रस से भरपूर फिल्में बनायी तो दर्शकों ने खुले दिल से उसे स्वीकार किया है चाहे वह राजकपूर हो या सत्येन बोस या महमूद या देवेन्द्र गोयल। अतः दोष दर्शकों का नहीं है, लेकिन तथ्य तो यह है कि यदि दर्शक विदेशी हास्य फिल्मों को देखकर हास्य फिल्मों का एक स्तर निर्धारित करते हैं और जब भारतीय फिल्मकार उस स्तर से लचर भौंडी हास्य फिल्म बनाता है तो दर्शक उसे नकार देता है और यह होना भी चाहिए, क्योंकि हास्य का अपना एक स्तर होना चाहिए, खोखले हास्य पर हँसी नहीं तरस आता है। शायद यही कारण है कि दर्शकों की अस्वीकृति को हमारे फिल्मकार दोष मढ़ने के लिए सहारे के रूप में इस्तेमाल करते हैं। हास्य ऐसा तथ्य है जिसे दोहराया नहीं जा सकता, एक हास्य फिल्म के सफल होते ही हमारे फिल्मकार उसी ढर्रे पर चलने लगते हैं और हास्यास्पद बन जाते हैं।[5]

20वीं सदी में हिन्दी फिल्मों में हास्य की भागेदारी काफी अधिक रही। वह युग खासकर 1960 से 1980 का कालखंड हिन्दी सिनेमा के लिए 'स्वर्ण युग' के तौर पर माना जाता रहा है। यहाँ पर गौरतलब यह है कि उस दौर में भारत में साक्षरता का दर वर्ष 2022 की तुलना में आधे से भी कम था। इसके बावजूद हिन्दी सिनेमा इतनी सफल रही कि वह अपने मूल उद्देश्य मनोरंजन के साधन के तौर पर अपनी उपयोगिता से भी मीलों आगे निकल गई। सर्वविदित है कि इसमें फिल्मों के हास्य वाले पक्ष की महत्वपूर्ण भूमिका रही। इसमें प्रमुख इन फिल्मों की खास भूमिका रही है–पड़ोसन, शार्गिद, गोपी, गोलमाल, कुंवारा बाप आदि। इन फिल्मों के अतिरिक्त भी शायद ही उस दौर की ऐसी भी कोई हिन्दी फिल्म हो जिसका हास्य–व्यंग्य का पक्ष लोगों के दिलो–दिमाग पर गहरी छाप न छोड़ी हो। दरअसल उस दौर की फिल्में भारतीय

सांस्कृतिक मूल्यों से भी ओत–प्रोत रहती थीं। जाहिर है कि इसमें हास्य–व्यंग्य की एक अनवरत भूमिका रही है जिसे दर्शकों ने दिलो–जान से सराहा है। 1980 के दशक के बाद हिन्दी फिल्मों में बाजार की शक्तियाँ धीरे–धीरे मजबूत होने लगीं। यह एक अमूलचूर परिवर्तन हिन्दी सिनेमा के इतिहास में हुआ जिसमें पैसा बनाना ही फिल्मों का प्रधान उद्देश्य बन गया। जाहिर है कि इससे फिल्मों में हास्य–व्यंग्य की भागेदारी में गिरावट आई। इसके साथ ही एक और गुणात्मक परिवर्तन आया वह यह कि हास्य–व्यंग्य जो बचा उसके स्वरूप और प्रकृत में काफी परिवर्तन हो गया। दुर्भाग्य से 21वीं सदी के दो दशकों में आने वाली फिल्मों में यह निरंतरता बढ़ती चली गयी। हालांकि कुछ फिल्मों ने हास्य–व्यंग्य की पुरानी प्रणाली को अपनाकर दर्शकों को उस दौर की यादें ताजा करा दीं। ऐसी फिल्मों में 'मुन्ना भाई एम.बी.बी.एस., लगे रहो मुन्ना भाई, थ्री इडियट' आदि फिल्में शामिल हैं।

भारत आज दुनिया की पांचवीं अर्थव्यवस्था बन गया है और विकास के डगर पर बहुत ही तेजी से बहुत अधिक आगे बढ़ रहा है। यह स्पश्ट है कि आर्थिक विकास के साथ–साथ सांस्कृतिक धरोधर एवं मनोरंजन के साधनों का भी भरपूर विकास होता है। आर्थिक विकास के साथ टेकनोलॉजी का विकास भी तेजी से होता है। इससे फिल्मों की गुणवत्ता और व्यवसायीकरण पर भी सकारात्मक असर पड़ता है। इक्कीसवीं सदी के दो दशक आज बीत चुके हैं आज हम पाते हैं कि फिल्मों में व्यवसायीकरण प्रधानता की ओर बढ़ रहा है। फिल्मी निर्देशकों से लेकर पटकथा लेखन से जुड़े लोगों को यह समझना चाहिए कि आधुनिकता के चकाचौंध से वशीभूत होने के बावजूद आज भी एक आम भारतीय बड़े पैमाने पर सिनेमा में हो रहे हास्य–व्यंग्य का आशिक है। अगर फिल्म निर्माण करने वाले अग्रणी जन भी स्वार्थ की दुनियां में डूब जाएं तब भी उनके लिए हिन्दी सिनेमा में हास्य–व्यंग्य की श्रृंखला को मजबूत रखना व्यावसायिक तौर पर लाभप्रद है। यहाँ यह स्पष्ट करना जरूरी है कि भारतीय हास्य–व्यंग्य की श्रृंखला ही इक्कीसवीं सदी में भी हिन्दी सिनेमा की प्रमुख आधार स्तंभ होनी चाहिए। दुर्भाग्य से फिल्म निर्माण के अग्रणी लोग इस वास्तविकता को समझने में असमर्थ हैं। समाज में बढ़ता तनाव और शहरीकरण के तेज होती प्रक्रिया ने लोगों को अवसाद से ग्रसित कर दिया है। 1960 से 1980 के बीच के हिन्दी सिनेमा में हास्य–व्यंग्य का जो स्थान था। उसको पुनः स्थापित कर हिन्दी सिनेमा समाज में एक व्यापक परिवर्तन का साधन फिर से बन सकती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह परिवर्तन सकारात्मक परिवर्तन होगा। इसके साथ ही यह दर्शकों के हर वर्ग की आकांक्षाओं को पूरा करेगा। और इसके साथ ही साथ व्यवसायिककरण के मनसूबों को भी साकार करेगा।

इस आलेख में हिन्दी सिनेमा में हास्य–व्यंग्य की भूमिका का अवलोकन किया गया है। मैं ऐसा मानती हूँ कि आधुनिकता के इस अत्याधुनिक दौर के बावजूद हास्य–व्यंग्य हिन्दी सिनेमा की सफलता के लिए आज भी मील का पत्थर साबित हो सकती है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. (2004). Indian Comedian Mehmood dead. Daily Times. 24 July.
2. (2010). नवभारत टाईम्स. 7 दिसम्बर.
3. वही.
4. (2022). Archival Reproductions by Cinemaaji. 1 August.
5. वही.